नवजागरण : सृजन का भविष्य, भविष्य का सृजन

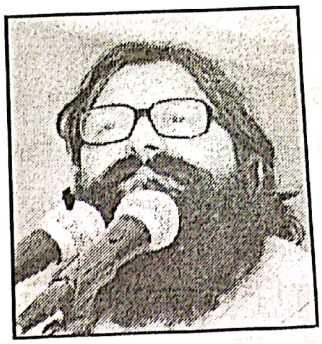

•डॉ. राम आह्लाद चौधरी

नवजागरण ने मानव सभ्यता और मानव संस्कृति को समृद्ध किया है। नवजागरण यूरोप का रहा हो या भारत का – उन दोनों के लक्ष्य में समानता होते हुए परिप्रेक्ष्य में अंतर है। उन दोनों के परिप्रेक्ष्य अलग है। परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए भारतीय नवजागरण और यूरोपीय नवजागरण का अध्ययन-मनन किया गया है। सभ्य समाज ने नवजागरण के प्रभाव को किस रूप में देखा है, इस पर काफी बहस हुई है। यह अलग सवाल है कि उस बहस का जो निष्कर्ष सामने आया, उसका प्रचार समाज के उन सभी स्तरों तक नहीं हो पाया, जिन स्तरों पर नवजागरण के महत्त्व को स्वीकारनेवालों की भीड़ दिखती है, लेकिन उस भीड़ ने कोई ऐसा निष्कर्ष नहीं प्रस्तुत किया, जिसके आधार पर समाज में शांति और सुकून का दर्शन हो सके। जनता शांति से रहना चाहती है, लेकिन उसे उपदेश यह दिया जाता है कि अशांति और बेचैनी ही जिन्दगी की सच्चाइयां हैं। इन सच्चाइयों की चीर-फाड़ करने वालों की संख्या भी कम नहीं है।उससे समाज को कितना लाभ मिलता है, इस बारे में कोई मुंह नहीं खोलता है।

नवजागरण के प्रभाव को अस्वीकार करने वालों की संख्या भी कम नहीं है। बदलते परिप्रेक्ष्य में नवजागरण की वकालत करनेवालों की संख्या जरूरत से ज्यादा है। नवजागरण की महत्ता स्वीकार करते हुए यह भी स्थापित किया गया है कि मानव सभ्यता और मानव संस्कृति को उपयुक्त बनाने में नवजागरण की अहम् भूमिका है। नवजागरण पर टिप्पणी करते हुए पूरनचंद जोशी ने 'संस्कृति विकास और संचार क्रांति' नामक पुस्तक में लिखा है कि स्वाधीनता-पूर्व नवजागरण में जीवन का समर्थन करनेवाली तथा पुनरुज्जीवन प्रदान करने वाली परंपराओं का समावेश था। लेकिन आज इन परंपराओं को भुला दिया गया है। हमें उनके मूल की पुनः तलाश करनी चाहिए। दरअसल पूरनचंद जोशी ने नवजागरण को परंपरा और आधुनिकता के द्वन्द्व के रूप में व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। यह प्रयास अत्यंत वास्तविक और सराहनीय है।

नवजागरण के संदर्भ में गांधी, रवीन्द्र और नेहरू के बीच स्पष्ट अंतर था। नवजागरण को ध्यान में रखते हुए गांधी ने राजा राममोहन राय की भूमिका से व्यापक भूमिका कबीर की स्थापित की है। गांधी ने सन् १९२१ में यह स्वीकार किया है कि राममोहन राय और बड़े सुधारक तथा लोकमान्य तिलक और बड़े विद्वान हो सकते थे, बशर्ते उनके सामने अंग्रेज़ी में सोचने और मुख्यतः अंग्रेज़ी में ही अपने विचारों को व्यक्त करने की बाधा न होती। यदि अपेक्षाकृत कम अप्राकृतिक व्यवस्था में उनका पालन-पोषण हुआ होता, तो जनता पर उनका प्रभाव और अधिक होता। दूसरों की नकलवालों की शक्ति से कोई भी देश राष्ट्र नहीं बन सकता। मेरा मानना है कि राममोहन राय और तिलक की तुलना में चैतन्य, कबीर और नानक अधिक महान थे।

गांधी ने इस तरह की तुलना क्यों की, क्या इस तुलना की कोई वास्तविक बुनियाद है। चैतन्य-कबीर-नानक के समक्ष जो चुनौतियाँ थीं, क्या वही चुनौतियां राजा राममोहन राय और तिलक के सामने थीं? स्थितियां चाहे जो हों, गांधी यही कहना चाह रहे थे कि परंपरा की ताकत को आधुनिकता की शर्त पर अपनाना गलत है। भारतीय मनीषा की ताकत के आधार पर गांधी यही चाहते थे कि नवजागरण के प्रभाव को परंपरा के आधार पर देखना चाहिए। उधर रवीन्द्रनाथ का मत यह था कि पश्चिम के लिए भारत भिखारी नहीं है।

रवीन्द्रनाथ के चिंतन के केन्द्र में मनुष्य और मनुष्यत्व था। यही कारण है

Scanned by CamScanner

कि उन्होंने हर वक्त मनुष्यत्व को आगे बढ़ाने के पक्ष में काम किया। रवीन्द्रनाथ ने समाज में स्नेह को स्थापित करने की पहल की। उन्होंने सवाल किया है; उन उत्तरदायित्वों का कहां तक निर्वाह हो पा रहा है; उनके शब्दो में समूची दुनिया यह जानने को उद्यत है कि पूरब का यह महान राष्ट्र आधुनिक काल से मिले उत्तरदायित्वों और अवसरों का क्या हश्र करता है। वह उनका इस्तेमाल किस तरीके से करता है।

अगर यह सिर्फ पश्चिम की नकल करता है तो इसने जो अपेक्षाएं जगाई हैं, वे अधूरी रह जायेंगी; क्योंकि पश्चिमी सभ्यता ने दुनिया के समक्ष अनेक गंभीर सवाल रखे लेकिन अभी तक उनका ठीक-ठीक जवाब नहीं मिल पाया है। व्यक्ति और राज्य के बीच द्वन्द्व, व्यक्ति की भौतिक लालसा और उसके आध्यात्मिक जीवन के बीच संघर्ष, राष्ट्रों के स्वार्थ और मानवता के उच्च आदर्शों के बीच द्वन्द्व, वाणिज्य और राज्य के विशाल संगठनों की कुत्सित तथा अवियोज्य जटिलताओं और सादगी के आकांक्षी व्यक्ति के नैसर्गिक अंतर्बोध के बीच द्वन्द्व - इन सबमें ऐसा सामंजस्य स्थापित करना है, जिसके बारे में अभी तक सपने में भी नहीं सोचा गया है।

रवीन्द्रनाथ की इस भावना पर समाज का अगला हिस्सा क्या सोचता है; यह एक सवाल है। लेकिन रवीन्द्रनाथ ने स्पष्ट लिखा है कि पश्चिम की नकल से पूरब का विकास नहीं हो सकता है। उन्होंने यह भी कहा कि कौन-सी जीवन शैली अपनानी चाहिए, जो जीवन शैली मनुष्य को मान-सम्मान के साथ इस जगत-जीवन में पूरी दुनिया में सिर ऊँचा कर जीना सिखला सके। इससे नया सृजन होगा। यह सृजन भविष्य को सुरक्षित रख सकता है। मनुष्य के कल्याण के लिए काम करना जीवन का लक्ष्य होना अनिवार्य है, जो नकल के जरिये संभव नहीं है। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ ने पश्चिम से नकल करने की बातों को एक सिरे से खारिज कर दिया है; लेकिन जीवन की समस्याओं के प्रति उनका नजरिया बिलकुल स्पष्ट था।

जीवन के प्रति रवीन्द्रनाथ का नजरिया आधुनिक था; पर इसका कदापि अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने भारत की प्राचीन संस्कृति और सोच की उपेक्षा की हो। भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी सोचपूर्ण आस्थावान और पूरी तरह से ठोस थी। रवीन्द्रनाथ भारतीय संस्कृति और भारतीय मनीषा के प्रबल समर्थक थे। उनके इस समर्थन से आधुनिकता की विशेषताओं की तरफ आम लोगों का ध्यान गया, वे विशेषताएं अब तक उपेक्षित थीं।

उपेक्षा की गाथा गानेवालों की कमी नहीं है, पर सवाल यह है कि उन उपेक्षाओं के स्रोत कहां हैं? हर सभ्यता की अपनी खास पहचान होती है, जो नये और पुराने मूल्यों के बीच से बाहर निकल कर सामने आती है। उस पहचान के आधार पर सभ्यता के गठन का पता चलता है। यही गठन उसकी सोच को जन्म देता है। किस आधार पर एक सभ्यता अपनी संस्कृति का निर्माण करती है, क्या इससे राजनीति पूरी तरह ओझल रहती है? जब राजनीति ओझल नहीं होती है तब निश्चित रूप से उसके निर्माण में संगठन और व्यक्ति की भूमिका होती है। दरअसल संगठन और व्यक्ति के विचार, सोच और कार्यक्रम के बीच उत्पन्न कार्यप्रणाली राजनीति की अभिव्यक्ति है। यही कारण है कि संगठन और व्यक्ति की भूमिका राजनीति में झलकने लगती है।

इस झलक की व्याख्या चाहे कोई किसी आधार पर क्यों न करे, यह सच है कि मानव सभ्यता और मानव संस्कृति के निर्माण में राजनीतिक उपादान होते हैं। इन तत्वों की पहचान को लेकर विभिन्न तरह के मत स्थापित हो सकते हैं। उन मतों की अपनी-अपनी विशेषताएं लक्षित हो सकती हैं। कुल मिलाकर समाज के बदलते परिप्रेक्ष्य में सांस्कृतिक-राजनीतिक बदलाव को उपेक्षित नहीं किया जा सकता है, जिसका स्रोत आर्थिक बदलाव, इस आर्थिक बदलाव की जड़ उत्पादनशीलता से जुड़ी होती है। यही कारण है कि श्रम और पूंजी के द्वन्द्व से समाज के हर क्षेत्र में स्थापित या जारी द्वन्द्व गति पाता है। इसी द्वन्द्व का असर मूल्य और चरित्र के निर्माण पर पड़ता है। सिर्फ इतना ही नहीं बल्कि समाज का निर्माण भी इन्हीं गुणों के चलते होता है।

नेहरू ने नवजागरण की विशेषताओं पर रोशनी डालते हुए गांधी और ठाकुर के विचारों में सहमति के सूत्र खोजने का प्रयास किया है। उनके अनुसार दो भिन्न विचारों या सोचों में तारतम्य बैठाना उचित है, क्योंकि उन दोनो भिन्न विचारों की अपनी-अपनी खासियत होती है नेहरू ने लिखा है कि भारतीय सभ्यता का इतिहास हजारों साल पुराना है

Scanned by CamScanner

लेकिन इसकी खासियत अब भी स्पष्ट दिखाई देती है। नैतिक और चारित्रिक मूल्यों का पालन भारतीय सभ्यता की विशिष्टता के लक्ष हैं। भारतीय जीवन युगों से इन मूल्यों द्वारा ही परिचालित हो रहा है। यह संभव है कि लोग इन मूल्यों पर पूरी तरह खरे न उतरे हों। लेकिन ये मूल्य भारतीय सोच का अंग रहे हैं। इस सोच की दिशा आधुनिक जगत की वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी सभ्यता की ओर रही है। भारत की सभ्यता कुछ हद तक यह है कि इन दोनों के बीच तारतम्य कैसे स्थापित किया जाए। आधुनिक जगत के किसी अन्य देश ने संभवतः गांधी को पैदा नहीं किया होता। इस संदर्भ में ठाकुर को भी अनूठा कहा जा सकता है। जीवन की समस्याओं के प्रति तो उनका दृष्टिकोण बिलकुल आधुनिक था, लेकिन दूसरी ओर भारत की प्राचीन संस्कृति और सोच के वे प्रबल समर्थक थे। उनका संदेश भी परंपरा और आधुनिकता (पूरब और पश्चिम) के बीच तारतम्य स्थापित करना था।

यह कहना उचित होगा कि इस तरह तारतम्य स्थापित करने के चलते आधुनिकता के प्रति आम जनता में विक्षोभ व्याप्त हो गया। जनता को औपनिवेशिकता के विरुद्ध लड़ना था। इस लड़ाई ने भारत की जनता किस तरह लड़ रही थी, उसकी लड़ाई का जिक्र इतिहासकारों ने किया है। यह सच है कि इस लड़ाई में जीत मिली, भारत आजाद हुआ। पूरी लड़ाई एक तरह से आजादी की अवधारणा लेकर पैदा हुई, जब कि एक तरह से सत्ता हस्तांतरण के साथ-साथ भारतीय संप्रभुता के उदय की कहानी भी उसमें छिपी हुई है। यदि नवजागरण संप्रभुता को भी सुरक्षित नहीं रख सकता है, तब भला उस नवजागरण की वकालत क्यों की जायेगी, यह अलग बात है कि देश के राजनीतिक इतिहास में उस उभार का वर्णन अपेक्षित है। उस उभार के वर्णन मात्र से संतुष्टि नहीं मिल जाती है। संतुष्टि उभार के स्पर्श से भी कहां मिलती है? जब तक इतिहास के गह्वर में नहीं पहुँचा जाता है, तब तक सृजन का स्रोत नहीं दिखता है; वही स्रोत भविष्य का निर्माता है।

यदि नवजागरण को राजनीतिक इतिहास के सिलसिले में एक महत्वपूर्ण मोड़ के रूप में देखा जाता है, जिसका वर्णन भी हुआ है। उस वर्णन से यदि परिपक्वता प्रकट होती है, तो उसका विश्लेषण करना आवश्यक है। इसका जिक्र करते हुए रामविलास शर्मा ने नवजागरण के विस्तार को भारतेन्दु युग से लेकर छायावाद तक माना है। हर समय में कुछ-न-कुछ जागरण होता है। चाहे जागरण जिस रूप में हो।

धूर्जटी प्रसाद मुखर्जी ने नवजागरण पर आलोकपात करते हुए लिखा है कि हमें याद रखना चाहिए कि भारत के दीर्घकालीन इतिहास में कई नवजागरण हुए। उन्नीसवीं सदी का नवजागरण इस शृंखला में अंतिम था। ... हम जानते हैं कि भारतीय इतिहास में इससे पहले कम-से-कम पांच ऐसे मौके आए जब समाज में व्यापक परिवर्तन हुआ। इन परिवर्तनों के बाद समाज पर नए जीवन की छाप स्पष्ट देखी जा सकती थी। ये मौके थे - वैदिक-आर्य काल, बुद्ध काल, गुप्त काल, हर्षवर्धन और विक्रमादित्य काल तथा मुस्लिम काल। भक्ति संप्रदाय के मध्ययुगीन संतों और पैगंबरों का आगमन मुस्लिम काल में ही हुआ था। इनके अलावा छोटे-छोटे आंदोलनों की संख्या तो इससे भी अधिक है।

धूर्जटी प्रसाद मुखर्जी ने नवजागरण के प्रभाव को समाज के बदलते परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया है। आखिर यह परिवर्तन क्यों होता है, इसके सम्बन्ध में उनका यही मानना है कि मनुष्य में नये काल के उत्पन्न होने से नया भरोसा पैदा होता है। इसके चलते नयी चुनौतियों को समाज व्यापक स्तर पर स्वीकार करता है। किसी बदलाव को स्वीकारने का सीधा अर्थ है; उसके अन्तर्गत सृजन के छिपे भविष्य का दर्शन करना। यही भविष्य सृजनशीलता को आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। बदलाव हर काल में होता है। उसकी कई अवधारणाएँ हैं। लेकिन इस विशेष बदलाव को ऐतिहासिक संदर्भ में देखना जितना उचित है, उससे कहीं जरूरी यह है कि किस आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन के साथ-साथ नैतिक और चारित्रिक बदलाव आने लगे।

यदि बदलाव का प्रभाव गृहीत नहीं हो पाता है, तो उसका मूल्यांकन इतिहास में हालांकि सही अर्थों में किया जाता है, पर वह मूल्यांकन सिर्फ एक समीक्षा तक सीमित रह जाता है। समीक्षात्मक विवेचन को आगे बढ़ाने मात्र से चरित्र का गठन नहीं होता है। चरित्र का गठन मूल्यों से होता

Scanned by CamScanner

है। नवजागरण ने मूल्यों का निर्माण किया है, चाहे यूरोपीय नवजागरण हो या भारतीय नवजागरण हो। दुनिया में कहीं भी परंपरा और आधुनिकता के बीच चल रही लड़ाई को चुपचाप स्वीकार नहीं किया गया है। इस संघर्ष के दरम्यान चुप्पी नहीं रखना ही सबसे बड़ा हस्तक्षेप है।

यह सच है कि हस्तक्षेप करने से विचार व्यक्त करने की गुंजाइश मिलती है। व्यक्ति इसका उपयोग अपनी सामर्थ्य के अनुसार करता है। यह सामर्थ्य वह कहां से हासिल करता है? इस सवाल का जवाब खोजने पर पता चलता है कि वह किस तरह की चेतना से लैस है। जिस परिस्थिति में वह व्यक्ति रहता है; जिस दर्शन को आत्मसात करता है और अतीत से किस तरह सीखता है – इस तरह के तमाम प्रश्नों को सामने रखते हुए उसकी मानसिक बुनावट को समझा जा सकता है, जिसके आधार पर उसकी सोच जाहिर होती है। इस मानसिक बुनावट के आधार पर वह अपना चारित्रिक गठन इसी उद्देश्य से करता है कि मौजूदा परिस्थिति में उसे किस तरह अपनी उपस्थिति दर्ज करानी है। अपनी अभिव्यक्ति को स्थापित करने के लिए वह व्यक्ति जो जद्दोजहद करता है, वही उसकी सबसे बड़ी पहचान है।

इस पहचान के लिए उसे अपनी परंपराओं की जड़ता से जहाँ जूझना पड़ता है, वहीं वह उससे ऊर्जा ग्रहण करते हुए विकल्प को स्थापित करने का प्रयास करता है। विकल्प को स्थापित करने में इतिहास के खास कालखण्ड में उस व्यक्ति ने किस तरह ऊर्जा संग्रह करते हुए मानवीय मूल्यों को नया रूप दिया है, उसी के आधार पर उस कालखंड की चर्चा होती है। इस संदर्भ में ग्रोएथुइसेन ने बिलकुल सही लिखा है कि उसने अपने विचारों को परंपराओं से जोड़ना चाहा। लेकिन जब उसने अपनी आवश्यकता और रुचि के मुताबिक विकल्पों का चयन किया, जब उसने अपने अनुभवों को परंपराओं से जोड़ा तब उसने अपने निजत्व को भी बरकरार रखा। अर्थात् उसने पारंपरिक संस्कृति को तो अपनाया, लेकिन अपने व्यक्तित्व को खोकर नहीं। इस प्रकार उसने प्राचीनता का अपनी जरूरत के मुताबिक इस्तेमाल किया, प्राचीनता की शिक्षा को अपनी समस्याओं के मुताबिक व्यवस्थित किया। उसकी अपनी प्रवृत्ति ही निर्णायक कारक बनी।

यह सच है कि प्रवृत्ति के अनुसार निर्णय लेने की क्षमता उत्पन्न होती है। यही कारण है कि नवजागरण पर विचार इस आधार पर करना उचित होगा कि चेतना किस तरह पैदा हो रही है; क्योंकि चेतना के बिना प्रवृत्ति का असर नहीं दिखता है। उल्लेखनीय है कि नवजागरणकालीन इतिहास बतलाता है कि भारतीय जनता के चेहरे पर गतिहीनता, निर्भरता, अवसाद और गरीबी बड़े-बड़े अक्षरों में लिखे हुए थे; जिन्हें मिटाने के लिए भारतीय समाज अपना कौशल दिखाने में जुटा हुआ था। यही कारण है कि भारतीय समाज ने नयी दुनिया से नयी ऊर्जा और शक्ति अर्जित की, जिसका ऐतिहासिक संदर्भ है और दार्शनिक आधार है। उत्पन्न जागरुकता का हस्तांतरण समाज के हर क्षेत्र और हर स्तर पर वांछनीय है; जहां सृजन का भविष्य अपनी करुणा के साथ मौजूद है, जिसका उन्मेष भारतीय मानस की प्रगतिशीलता और सृजनशीलता में दिखता है। सच्चे अर्थों में भारतीय नवजागरण के उत्तरदायित्वों का वहन प्रगतिशील आंदोलन करता है।

कला, साहित्य और संस्कृति को दूर तलक प्रभावित करने वाला प्रगतिशील आन्दोलन पूरी दुनिया में सदा अपनी महत्ता और अद्वितीयता की वजह से सदा न केवल प्रसिद्ध रहेगा बल्कि आने वाले समय को भी अपनी बुद्धिमत्ता और शक्तिमत्ता से आलोड़ित करता रहेगा। भारत की धरती पर प्रगतिशील लेखक संघ के ७५ साल हुए और परिवर्तित परिस्थितियों में प्रगतिशीलता पर गंभीर विचार-विमर्श किये गये। इस लेखक संघ ने साहित्य-संस्कृति को एक खास नजरिया देते हुए साहित्य-संस्कृति-समाज में उन मेहनतकशों को केन्द्रीय रूप में स्थापित किया, जिन मेहनतकशों के श्रम की भूमिका को यदि किसी साहित्यिक आन्दोलन ने मुख्य रूप से भारत में केन्द्रित करने की चेष्टा की, तो वह प्रगतिशील लेखक संघ के नेतृत्व में संगठित प्रगतिशील आन्दोलन है।

प्रगतिशील लेखक संघ ने आजादी से पहले देश में किसान-मजदूरों और मध्य वित्त के लोगों की प्रमुख समस्याओं को लेकर उन सापेक्षता की आवाज उठायी। बड़े पैमाने पर आम जन के सुख-दुख का आकलन करते हुए उनके कष्ट-पीड़ा-आंसू-श्रम की सही पहचान का विश्लेषण करने के सिलसिले में सौन्दर्यवृत्ति को बदलने की जो कोशिश

Scanned by CamScanner

इस लेखक संघ ने सात-आठ दशक पहले शुरू की थी, उसके मान-सम्मान में कहीं किसी कोने से बट्टा नहीं लगा बल्कि इस साहित्यिक आन्दोलन ने भारत जैसे वैविध्यपूर्ण देश में हर भाषा को प्रभावित करते हुए साहित्यिक आन्दोलन के उन्मेष को स्थापित किया। इस उन्मेष ने भारत की धरती पर विधिवत संघर्ष को विस्तार दिया, जिसका प्रेरणास्रोत यदि ब्रसेल्स में आयोजित विश्व शांति सम्मेलन है, तो उसका उद्देश्य निश्चित तौर पर भारत में साम्प्रदायिक सौहार्द्र की स्थापना है। साथ ही शासन व्यवस्था की उस असलियत को भी उजागर करना है, जिस पर शासकों ने पर्दा डाल रखा। अंधविश्वास, कुसंस्कार, भय पर जबर्दस्त चोट करते हुए इस आन्दोलन ने यह सिद्ध कर दिया कि अमीरी-गरीबी किसी प्राकृतिक आपदा के चलते इस देश में नहीं है बल्कि वर्ग-विषमता के चलते ही यह वीभत्स अमीरी-गरीबी है। एक व्यक्ति खटते-खटते मरता है, दूसरा खाते-खाते मरता है।

इस विषमता को दूर करने की ओर इस आन्दोलन ने रास्ता दिखाया तथा विवेक की प्रधानता को न केवल साहित्य-समाज-संस्कृति में पूरी तरह स्थापित किया बल्कि संसार में व्याप्त विषमता के संदर्भ में अपना मत जोरशोर के साथ प्रकट किया। वर्ग विभाजित समाज के सच को समझने की काबलियत इस आन्दोलन में अपने जन्मकाल से मौजूद थी। यही कारण है कि संघर्ष के मैदान में इस आन्दोलन की परिधि बढ़ती चली गयी। हिंदी साहित्य में प्रगतिशील आन्दोलन की शुरुआत बहुत पहले हो गयी थी। लेकिन अन्तरराष्ट्रीय घटनाक्रमों की जांच करने तथा उसके परीक्षण से शिक्षा लेने की जरूरत पर पहली बार इस आन्दोलन ने रोशनी डालने का सार्थक प्रयास किया। इस प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना ९-१० अप्रैल १९३६ में लखनऊ में हुई, जहां प्रेमचन्द, रशीद जहां, सज्जाद जहीर जैसे गणमान्य व्यक्ति मौजूद थे।

उस अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण देते हुए प्रेमचंद ने बिलकुल स्पष्ट शब्दों में कहा कि साहित्य जीवन की आलोचना है। जीवन की आलोचना को जानने के जरिये समय की चीख को सुना जा सकता है। इस आलोचना को सही तरीके से साहित्य समाहित कर सकता है। साहित्य को इस संघ की स्थापना से पहले प्रवृत्तिपरक दृष्टि से देखने की कोशिश जारी थी। साहित्य में विधेयवादी नजरिया का बोलबाला था। प्रेमचंद ने इस नजरिये पर एक तरह से हल्ला बोल दिया। उनके द्वारा हल्ला बोलते ही परजीवी प्रवृत्ति के लोगों के कान चौकन्ने हो गये। स्वाभाविक है कि प्रगतिशील लेखक संघ पर प्रहार होने लगा आगे चलकर उसके विरुद्ध एक मोर्चा खुल गया। इसका नेतृत्व अज्ञेय और बनारसीदास चतुर्वेदी जैसे लोगों के हाथों में था। 'विशाल भारत' पत्रिका उस वक्त प्रगतिशील आन्दोलन साहित्य पर अपने ढंग से प्रश्न उठा रही थी। लेकिन उस पत्रिका को यह पता चल गया था कि भारत की धरती पर साहित्यिक आन्दोलन का एक ऐसा ज्वार उठ खड़ा हुआ है, जिसे रोकना उन तमाम लोगों के लिए मुश्किल है, जो खा-पीकर अघा चुके हैं।

सही अर्थों में प्रगतिशील आन्दोलन हर दृष्टि से मुर्दों में जान फूंकने वाला साहित्यिक आन्दोलन था, जो भारतीय जनता की शर्तों पर भारतीय जनमत के साथ जन आकांक्षाओं को अमली जामा पहनाने के वास्ते आरंभ हुआ था; जैसा कि प्रगतिशील लेखक संघ के लखनऊ के घोषणापत्र में लिखा गया - "हमारे इस संघ का उद्देश्य साहित्य और दूसरी कलाओं को अप्रगतिशील वर्गों के आधिपत्य से निकालकर उन्हें जनता के निकटतम सम्पर्क में लाया जाय, उनमें जीवन और वास्तविकता लायी जाय और वे उज्ज्वल भविष्य का मार्ग दिखायें जिसके लिए मानवता इस युग में संघर्षशील है।" मानवता को बचाने के लिए पूरी दुनिया में संघर्ष चल रहा है।

मानवता विरोधियों ने मनुष्यत्व को कुचलने का काम शुरू कर दिया था। डिक्टेटरी का बोलबाला दुनिया मानने के लिए तैयार नहीं थी। दुनिया के विभिन्न देशों में जंगखोरों के विरुद्ध संघर्ष चल रहा था। खासकर रोमांरोला और हेनरी बारबूज ने जबर्दस्त आन्दोलन शुरू किया था। भारत में रवीनद्रनाथ ने जंगखोरों के दानवीय चेहरे को सबसे पहले पहचाना तथा फासिस्टों के विरुद्ध संघर्ष शुरू किया। रवीन्द्रनाथ ने यह सोचा कि मानवता की रक्षा के जरिये ही फासिस्टों-नाजियों को मुंहतोड़ जवाब दिया जा सकता है। लाल फौज ने भी फासिस्टों के विरुद्ध जोरदार संग्राम किया। इस संग्राम पर टिप्पणी करते हुए रवीन्द्रनाथ ने उद्घोष किया

Scanned by CamScanner

कि ओरा पारवे ... ओरा पारवे यानी लाल फौज की जीत अवश्य होगी। यह अलग बात है कि लाल फौज की जीत को रवीन्द्रनाथ नहीं देख पाये। लेकिन उन्हें पूरा भरोसा हो गया था कि हिटलर की जीत नहीं होगी। अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर घट रही घटनाओं से यही शिक्षा मिल रही थी। विद्वानों का कहना है कि फासीवाद तो पूंजीवाद व्यवस्था रूपी घाव का मवाद है। जब प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन आरम्भ हुआ, तब यह भी ध्यान रखना होगा कि इसकी पृष्ठभूमि में आजादी की पहली लड़ाई की सफलता-विफलता का भी हाथ था। प्रगतिशील लेखक संघ ने शुरू से फासिज्म का विरोध किया। इस संघ की ओर से सन् १९४२ में कहा गया कि फासिज्म एक अपरिचित शत्रु नहीं है। फासिज्म के अनिवार्य विरोध तत्त्व की उपेक्षा करने या उसकी ओर से आंख मींचने का मतलब स्वेच्छा से अपने को एक बर्बर आक्रमणकारी की लंबी और घातक गुलामी का शिकार बनाना होगा। आज की दुनिया में फासिस्ट जीत का मतलब एक नये अंधकार युग की शुरुआत होगी। ... अपनी मातृभूमि के आह्वान पर आगे आना और मुक्ति तथा संस्कृति की दीपशिखा को प्रज्वलित रखना हमारा कर्तव्य है। इन्दौर में फासिस्ट विरोधी सम्मेलन में राहुल ने कहा - हमारे साहित्यकारों को ही अपनी सांस्कृतिक निधि की रक्षा का गुरतर भार सौंपा गया है, जो कि वाल्मीकि, अश्व घोष, भास कालिदास, शूद्रक, भवभूति, बाणभट्ट पर पड़ा। सांस्कृतिक निधि रक्षा के चलते ही फासिस्टवाद का इतना विरोध हुआ। इस महाविद्रोह के बाद यानी प्रथम स्वाधीनता संग्राम ने यह सिद्ध किया कि भारत में हिन्दू-मुस्लिम की एकता नितांत जरूरी है।

• सन् १८५७ के बाद जहां ब्रितानी शासन हिंदी और मुस्लिम के बीच नफरत की दीवार खड़ी करना चाह रहा था, वहीं भारत के प्रगतिशील रचनाकारों ने हिंदू-मुस्लिम की एकता की जरूरतों को रेखांकित करते हुए हिन्दू-उर्दू का संयुक्त मंच बनाने के लिए संघर्ष किया। इस संघर्ष को कमतर कर आंकना न उचित है और न प्रासंगिक। इस सिलसिले में यह कहना जरूरी है कि जनवरी १९३६ में हिन्दुस्तान एकेडमी ने हिंदी और उर्दू का संयुक्त मंच बनाने की पहल की। जहां भाषा के प्रश्न पर गंभीर विचार-विमर्श शुरू हुआ था। फिराक, अहमद अली, दयानारायण निगम, सज्जाद जहीर ने इस मंच पर आपस में एक-दूसरे को देखा और पहचाना। सवाल सिर्फ देखने और पहचानने तक सीमित नहीं था बल्कि क्या करना चाहिए इस दिशा में प्रगतिशील लेखक संघ आगे बढ़ रहा था तथा सज्जाद जहीर के पास स्पष्ट अवधारणा थी। सज्जाद जहीर अपने मिशन पर डटे हुए थे।

हिंदी साहित्य सम्मेलन २२-२३ फरवरी को पूर्णिया में हुआ। जिस सम्मेलन से वापस आते वक्त प्रेमचंद ने यह सोच लिया कि अब लेखकों को संगठित करना ही पड़ेगा। वहां से वापस होते वक्त उन्होंने अपनी डायरी में इकबाल की कविता की पंक्तियों को उद्धृत करते हुए लिखा कि साहित्यिक आन्दोलन को एक नया आयाम देना है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा - "अब प्रेमिका के सामने बैठकर आंसू बहाने का जमाना नहीं रहा।" फरवरी १९३६ में सज्जाद जहीर और प्रेमचन्द के बीच कई पत्रों का आदान-प्रदान हुआ। कैसे संगठन बनाना चाहिए, किसका अध्यक्षीय भाषण देना वर्तमान संदर्भ में उचित होगा- विभिन्न मसलों पर दोनों के बीच एक स्पष्ट आम सहमति बनी। उसके बाद लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ का पहला अधिवेशन आयोजित करने का समय निर्धारित किया गया।

उसी समय लखनऊ में कांग्रेस का अधिवेशन चल रहा था तथा भारतीय किसान संघ का अखिल भारतीय सम्मेलन होने जा रहा था। सही मायने में भारत में नया सूरज निकल रहा था। यहां तक कि कांग्रेस के अन्दर युवा पीढ़ी का प्रभाव बढ़ रहा था। चिंतन-मनन के क्षेत्र में नयी रोशनी आ रही थी। उस रोशनी की सही पहचान करते हुए प्रेमचंद ने प्रगतिशील लेखक संघ का अध्यक्षीय भाषण दिया और साहित्य के संदर्भ में कहा - "हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाईयों का प्रकाश हो - जो हममें गति और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं; क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है। इस सम्मेलन के बाद देश के विभिन्न प्रांतों के प्रगतिशील रचनाकारों ने ब्रितानी हुकूमत के विरुद्ध लेखों को लामबंद करने का काम शुरू किया। खासकर पढ़े-लि

(शेष पृ. २७ पर)

Scanned by CamScanner

(पृ. १० का शेषांश ... नवजागरण : सृजन का भविष्य)

समुदाय यानी शिक्षित जनता के बीच अलख जगाने का जोरदार प्रयास आरंभ हुआ। इस प्रयास का आकलन करते हुए हंसराज रहबर ने लिखा कि अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के इतिहास विभाग के प्रोफेसर डाक्टर अशरफ, अमृतसर के एक कालेज के वाइस प्रिंसीपल डॉ. महमूद जफर और उनकी पत्नी रशीद जहां, आक्सफोर्ड से बैरिस्टरी की डिग्री लेकर आनेवाले तथा कोलकाता में बैरिस्टरी करने वाले खासकर लंदन से पढ़-लिखकर लौटने वाले इस आंदोलन से जुड़े तथा हठी सिंह जिनकी शादी नेहरू की बहन कृष्णा से हुई- इन तमाम लोगों ने प्रगतिशील आन्दोलन को आगे बढ़ाया। सज्जाद जहीर विदेश से पढ़कर भारत वापस आये। उन्हें इलाहाबाद में प्रगतिशील आन्दोलन को खड़ा करने में प्रोफेसरों-विद्यार्थियों का पूरा सहयोग प्राप्त हुआ। अहमद अली फिराक गोरखपुरी, डाक्टर सैयद हुसैन प्रोफेसर एहतेशाम हुसैन, वकार अजीम, पंत, शिवदान सिंह चौहान, नरेन्द्र शर्मा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

भारत में प्रगतिशील लेखक संघ बनाने के इतिहास के बारे में यह भी कहा जाता है कि लंदन प्रवासी भारतीयों ने १९३५ में भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ का गठन किया। इस बारे में यह कहना जरूरी है कि १९३४ में मैक्सिम गोर्की के नेतृत्व में सोवियत लेखक संघ का गठन हुआ। इस संघ के अधिवेशन में रोमां रोलां, आंद्रे जीद, हेनरी बारबूज, जार्ज बर्नार्ड शा जैसे प्रमुख साहित्यकारों ने उस संघ के समर्थन में पत्र दिये। १९३५ में हेनरी बारबूर के नेतृत्व में पेरिस में लेखकों को संगठित करने का काम किया गया। वर्ल्ड कांग्रेस आफ राइटर्स फार दि डिफेंस आफ कल्चर पेरिस में बुलाया गया जहां मैक्सिम गोर्की, रोमां रोलां, आंद्रे मालरों, टामस जान, वाल्डे फ्रेंक जैसे विश्व प्रसिद्ध रचनाकारों ने सक्रिय भागीदारी की। इस सम्मेलन में पूरी दुनिया के प्रगतिशील लेखकों की स्थायी समिति बनायी गयी, ई एम फार्स्टर को इसका अध्यक्ष बनाया गया।

उस सम्मेलन में फासिज्म के विरुद्ध लेखकों को लामबंद करने की अपील की गयी। इसी अपील को ध्यान में रखते हुए लंदन में भारतीय प्रवासियों ने एक बैठक बुलायी, जिसमें मुल्कराज आनंद को अध्यक्ष तथा सज्जाद जहीर को सचिव चुना गया। उस बैठक में एक घोषणा-पत्र भी जारी किया गया, उसे हिन्दुस्तान के सभी प्रमुख लेखकों तथा सम्पादकों को भेजा गया।

लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ बनाने के एक साल बाद केरल में रचनाकारों को एकत्रित करने का प्रयास किया गया। १९३७ में केरल में जीवन साहित्य संघम नामक एक संगठन बनाया गया। आगे चलकर यह प्रोग्रेसिव राइटर्स आर्गेनाइजेशन के नाम से गठित हुआ। के. दामोदरन, चैरकुड, के. जी. जी. अजूथ कुरटम ने विभिन्न तरह की रचनाओं के जरिये प्रगतिशील धारा को विकसित किया। १९३८ में प्रगतिशील लेखक संघ का दूसरा अधिवेशन कोलकाता में हुआ था। रवीन्द्रनाथ इस अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण देने वाले थे, लेकिन शारीरिक अस्वस्थता के चलते अध्यक्षीय भाषण नहीं दे पाये। उन्होंने एक पत्र लिखकर इस अधिवेशन का अभिनन्दन किया।

इस अधिवेशन में प्रोफेसर हीरेन मुखर्जी की सक्रिय भूमिका ने सबका ध्यान प्रगतिशील लेखक संघ की ओर खींचा। १९३९ में श्रीपत राय के नेतृत्व में हंस को आंतर-प्रांतीय साहित्यिक प्रगति का अग्रदूत बनाया गया। इसके सम्पादक मण्डल में उर्दू से मौलाना अब्दुल हक, उड़िया के कालिन्दीचरण पाणिग्राही, बंगला के नंदगोपाल सेनगुप्त, मराठी के वी. एस. खांडेकर, कन्नड़ के वी. आश्वस्त नारायण राव को रखा गया। इस तरह दक्षिण और उत्तर भारत में प्रगतिशील लेखन का रथ आगे बढ़ने लगा। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि इस आन्दोलन पर आरंभ से ही आरोप-प्रत्यारोप का मामला चल पड़ा था। असंख्य आरोप-प्रत्यारोपों का जवाब प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन की तरफ से दिया जा रहा था। इस संदर्भ में अख्तर हुसैन रायपुरी के संघर्ष को याद करना जरूरी है, जिन्होंने प्रगतिशील आन्दोलन को बढ़ाने में अहम् भूमिका निभायी। अज्ञेय और बनारसीदास चतुर्वेदी ने प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन पर सबसे अधिक प्रहार किया। उनका उस समय यह मानना था कि कला-कला के लिए ही सही है। इसका विरोध करते हुए अख्तर हुसैन रायपुरी ने लिखा - "हमारे देश में क्रांतिप्रेरक साहित्य पैदा ही कब हो रहा है। कला-कला के नाम पर जो

Scanned by CamScanner

कविताएं और कहांनियां छपती हैं उनमें कुछ आत्मपूजकों की तुच्छ और रौंदी हुई आकांक्षाएं छिपी रहती हैं, जिनसे न जीवन के उच्च आदर्शों का कुछ सम्बन्ध है, न लोकजीवन के प्रत्यक्ष और जीवित सवालों से कोई वास्ता।"

प्रगतिशील लेखक संघ और प्रेमचंद के विरुद्ध कुप्रचार किया जाता था। खासकर यह कहा जाता था कि प्रेमचंद घृणा के प्रचारक हैं। धीरे-धीरे प्रचार जोर पकड़ने लगा कि प्रगतिशील का दिवाला विदेश में पिट गया, तब इस देश में शुरू हुआ। भला इससे क्या उम्मीद की जा सकती है। सबसे बड़ा हमला स्टैट्स मैन अखबार की तरफ से हुआ। उसके बाद सरकारी हमले शुरू हुए। किताबों पर प्रतिबंध लगना शुरू हुआ। मतों की कहानी पर पाबंदी लागू की गयी। इस्मत चुगताई की कहानी पर पाबंदी लगी। हमले होते रहे पाबंदी लगती रही, पर प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन समाज का झंडा लेकर आगे बढ़ता रहा है, जैसा कि प्रेमचंद ने कहा है - हम तो समाज का झंडा लेकर चलनेवाले सिपाही हैं। प्रेमचंद जैसे महान सिपाहियों ने साहित्य के जीवंत मूल्यों से जीवन को गतिशील बनाने का प्रयास किया।

जीवन की गतिहीनता को दूर करने में प्रगतिशील साहित्य की भूमिका मानव सभ्यता के विकास में सदा अमर रहेगी, क्योंकि उस गतिशीलता का जुड़ाव भारतीय नवजागरण से था, जो तत्कालीन परिस्थितियों में अपना परिधान ठीक करने के लिए अन्तरराष्ट्रीय का सीधा-सीधा मूल्यांकन कर रहा था, तथा सृजन को वास्तविकता का रूप दे रहा था, जिसका उज्ज्वल भविष्य लक्षित हो रहा था, जो सुरक्षित भी था। यही कारण है कि फैज अहमद फैज ने लिखा - ये: मिलन की, नामिलन की/ये लगन की और जलन की/जो सही हैं वारदातें/जो गुजर गई हैं रातें/जो बिसर गई हैं बातें/ कोई इनकी धुन बनाएं/कोई इनका गीत गाएं/चलो फिर से मुस्कुराएं/चलो फिर से दिल जलाएं। समाप्त

संपर्क : एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता -७०० ०७३
मो. ०९४३२०५१५००
ई-मेल : ramahlad@gmail.com

Scanned by CamScanner